Shodh Sangam Patrika
E-ISSN: 3049-0707, Volume 3 | Issue 1 | (Jan – Mar 2026)

जूठनः आत्मकथात्मक लेखन में दलित अनुभव का दस्तावेज़

डॉ. सुरिन्द्र सिंह
लैंग्वेज एडिटर, पंजाबी भाषा, साहित्य और संस्कृति के तकनीकी विकास के लिए अनुसंधान केंद्र, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला
ईमेल: ssurinder460@gmail.com

सारांश

'जूठन' ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा रचित एक प्रभावशाली दलित आत्मकथा है, जो भारतीय समाज में जातिवाद, अस्पृश्यता और गरीबी के यथार्थ को उजागर करती है। यह कृति दलित समुदाय के संघर्ष, अपमान और आत्मसम्मान की कहानी है। लेखक ने अपने जीवन के कष्टदायक अनुभवों को साझा करते हुए यह दिखाया है कि कैसे दलितों को सवर्ण समाज द्वारा अपमानित किया जाता है और उनका शोषण किया जाता है। पुस्तक में 'जूठन' का प्रतीक जातिवाद और दलितों के प्रति घृणा और असमानता का है, जब बची-खुची रोटियाँ या गंदा भोजन उन्हें दिया जाता था। इस आत्मकथा के पहले खंड में लेखक ने अपने बचपन की कष्टमय परिस्थितियों का उल्लेख किया है, जहाँ उन्हें स्कूल में शारीरिक और मानसिक शोषण का सामना करना पड़ा। दूसरे खंड में लेखक ने अपने जीवन के संघर्षों, अस्वस्थता और समाज में दलितों के प्रति मानसिकता को विस्तार से बताया है। 'जूठन' दलित समाज की पीड़ा और उनकी अनकही कहानियों को सामने लाती है। यह आत्मकथा दलित चेतना को जागृत करने वाली एक महत्वपूर्ण कृति है, जो समाज में बदलाव की आवश्यकता को व्यक्त करती है।

बीज-शब्दः ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित जीवन, जाति-भेदभाव, अस्पृश्यता, सामाजिक उत्पीड़न, गरीबी, संघर्ष, आत्मसम्मान, शिक्षा, दलित चेतना।

शोध विस्तारः

'जूठन' हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा रचित एक अत्यंत प्रभावशाली दलित आत्मकथा है, जो भारतीय समाज में जाति-आधारित भेदभाव, अस्पृश्यता और भीषण गरीबी का यथार्थ चित्रण करती है। यह आत्मकथा दलित समुदाय के संघर्ष, अपमान और आत्मसम्मान की कहानी है। इसमें लेखक ने अपने बचपन और जीवन के कष्टदायक अनुभवों को साझा किया है। लेखक ने सोच-समझकर अपनी आत्मकथा को शीर्षक 'जूठन' दिया है, जिसका अर्थ है बची-खुची रोटी या भोजन, जो दलितों को सवर्णों के घर काम करने के बदले अक्सर मिलती थी। यह उनके आर्थिक शोषण और अपमान का प्रतीक है। 'जूठन' जागरूक दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि के व्यक्तित्व-निर्माण की जीवंत कथा है, जिससे यह मालूम होता है कि किस प्रकार वीभत्स उत्पीड़न के बीच एक दलित रचनाकार की चेतना का निर्माण और विकास होता है और कैसे भारतीय समाज-व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर खड़ी 'चूहड़ा' जाति का एक बालक ओमप्रकाश, सवर्णों की चोटों और कचोटों के बीच परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ दलित आंदोलन का क्रांतिकारी योद्धा ओमप्रकाश वाल्मीकि बनता है।

दलित जीवन की पीड़ाएँ कितनी असहनीय होती हैं, इसका साक्षात् प्रमाण ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा रचित आत्मकथा 'जूठन' है। इसे पढ़कर पता चलता है कि वास्तव में आदिकाल से ही दलित जातियों के साथ दुर्व्यवहार होता आया है। किस प्रकार इन्हें अस्पृश्य मानकर इनसे घृणा की जाती रही है। मैंने भी अपने जीवन में अनेक बार इन लोगों के लिए उच्च जाति के लोगों द्वारा 'चूहड़ा' शब्द का प्रयोग करते सुना है, और बड़ी जाति के लोग किस प्रकार इन चूहड़े लोगों से गंदगी

साफ करवाते हैं और फिर इनसे घृणा करते हैं, तथा जैसा व्यवहार पशुओं से किया जाता है, वैसा व्यवहार इन चूहड़ों से करते लोगों को देखा है।

यह आत्मकथा दो खंडों में प्रकाशित है, जिसके पहले खंड में लेखक के बचपन (जन्म 1950) से लेकर 35 वर्ष (सन् 1985) तक की घटनाएँ, दलितों की व्यथा-कथा को लिया गया है, जबकि दूसरे भाग में देहरादून से जबलपुर और वहाँ से पुनः देहरादून की यात्रा करते हुए शिमला उच्च अध्ययन संस्थान, तथा फिर लेखक के अस्वस्थ होने की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। लेखक के अपनी आत्मकथा 'जूठन' संबंधी जो विचार हैं, वे उन्होंने अपनी आत्मकथा में कुछ इस प्रकार व्यक्त किए हैं- 'सचमुच जूठन लिखना मेरे लिए किसी यातना से कम नहीं था। जूठन के एक-एक शब्द ने मेरे जख्मों को और ज्यादा ताजा किया था, जिन्हें मैं भूल जाने की कोशिश करता रहा था।'

आत्मकथा का प्रथम खंड पढ़ने पर पता चलता है कि लेखक के साथ स्कूल में अध्यापकों, खासकर हेडमास्टर कलीराम द्वारा कितना दुर्व्यवहार से पेश आया जाता है, और उसे दूसरे बच्चों से दूर बिठाया जाना व पीने के पानी वाले हैंडपंप से दूर रखने जैसा दुर्व्यवहार किया जाना दलित जीवन जीने वालों की पीड़ाओं को अच्छी तरह से दर्शाता है। कैसी अभद्र भाषा का प्रयोग इन चूहड़ों के लिए किया जाता है, उसका साक्षात् नमूना लेखक ने प्रस्तुत किया है, जब हेडमास्टर उससे जबरदस्ती पूरे स्कूल में झाड़ू लगवाता है और कक्षा में पढ़ने के लिए प्रतिदिन बैठने नहीं देता- "चीखकर बोले, "जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू... नहीं तो गांड में मिर्ची डाल के स्कूल के बाहर काढ़ (निकाल) दूँगा।"[1] इतना और ऐसा दुर्व्यवहार चूहड़े के साथ कि यदि खाने के लिए भी कुछ देना है तो बचा-खुचा, बासी जूठा भोजन अथवा आटे में भूसी मिलाकर उसकी एक रोटी, और बदले में उनसे दोगुना काम करवाना यही उनकी नियति थी, लेखक ने इसकी गवाही स्वयं दी है- "दोपहर को प्रत्येक घर से बची-खुची रोटी, जो खासतौर पर चूहड़ों को देने के लिए आटे में भूसी मिलाकर बनाई जाती थी। कभी-कभी जूठन भी भंगन की टोकरी में डाल दी जाती थी।"[2]

दलितों का वास्तविक जीवन कैसा है, उसका प्रमाण देते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं- "दिन-रात मर-खपकर भी हमारे पसीने की कीमत मात्र जूठन, फिर भी किसी को कोई शिकायत नहीं। कोई शर्मिंदगी नहीं, कोई पश्चाताप नहीं।"[3] अध्यापक पथप्रदर्शक होता है, एक अच्छे समाज का निर्माता होता है, जो सबको बिना किसी भेदभाव के ज्ञान देकर अच्छा नागरिक बनाता है। पर हो रहा है बिल्कुल इसके उलट- स्कूलों में अध्यापक ही ऊँच-नीच, जाति का भेदभाव कर रहे हैं। नीच जाति के बच्चों से उनका व्यवहार अच्छा नहीं होता, चाहे वे बच्चे कितने ही योग्य अथवा होशियार क्यों न हों। इसका साक्षात् प्रमाण लेखक की अपनी भोगी गई व्यथा है। उन्होंने लिखा है- "लेकिन कुछ अध्यापकों का व्यवहार अभी भी ठीक नहीं था। उनके रवैए में प्रताड़ना थी, उपेक्षा भाव था।"[4]

ये बेचारे दलित सफाई कर्मचारी होकर भी स्वयं गंदगी से भरी बस्तियों में रहने के लिए मज़बूर हैं। गाँव-देहात से बिल्कुल अलग इनकी बस्ती होती है, जहाँ पर ज्यादातर गंदगी के ढेर देखने को मिल ही जाते हैं, और ये बेचारे वहाँ पर रहने को मज़बूर होते हैं। लेखक ने स्वयं ऐसी जिल्लत भरी ज़िंदगी का सामना किया है, जिसकी गवाही देते हुए वे लिखते हैं- "बरसात के दिन नरक से कम नहीं थे। गलियों में कीचड़ भर जाता था, जिससे आना-जाना कठिन हो जाता था। कीचड़ में सूअरों की गंदगी भरी रहती थी, जो बारिश रुकने के बाद गंधियाने लगती थी। मक्खी-मच्छर तो ऐसे पनपते थे जैसे टिड्डी दल।"[5]

गरीबी का जैसा वर्णन इस आत्मकथा में देखने को मिलता है, उससे दिल दहल जाता है। बरसात के वे दिन, जो अमीरों व बड़ी जाति के लोगों के लिए सुहावने और मज़ेदार होते हैं, वहीं बरसात के दिन गरीब और दलितों के लिए जिनके मकान कच्चे हैं, उनके लिए तो मुसीबत भरे होते हैं। उनकी तो नींद तक उड़ जाती है और कहीं घर की छत अथवा कोई दीवार न गिर जाए, इसी चिंता में उनकी भूख, प्यास और दिल का चैन आदि सभी पंख लगाकर कहीं उड़ जाते हैं। लेखक इस

सबका ज़िक्र आत्मकथा 'जूठन' में करते हैं- "साहित्य में नरक की सिर्फ कल्पना है। हमारे लिए बरसात के दिन किसी नारकीय जीवन से कम न थे। हमने इसे साकार रूप से जीते-जी भोगा है।"[6]

समाज में जितने भी घिनौने और घृणास्पद कर्म हैं, वे सब करने के लिए ये दलित लोग मज़बूर हैं। इनकी मज़बूरी है, क्योंकि यदि इन्हें अपना पेट और परिवार पालना है तो उसके लिए मरे पशु ढोने और गंदगी साफ करने जैसे कर्म इन्हें करने ही पड़ेंगे। फिर चाहे दूसरों के समक्ष शर्म और शर्मिंदगी का सामना ही क्यों न करना पड़े, वह भी तो इनकी मज़बूरी ही है। जैसे कि लेखक लिखते हैं कि जब वे अपने चाचा के साथ मरे हुए बैल की खाल उधेड़कर उसे लेकर अपने घर की ओर आ रहे थे, तब उनके चाचा उस खाल की गठरी को उठाते-उठाते थक गए और चाचा ने लेखक को वह गठरी घर तक उठाने को मजबूर कर दिया था। उस वक्त लेखक अपने चाचा के आगे बहुत गिड़गिड़ाया था कि वे उसे बस अड्डा पार करा दें, क्योंकि स्कूल की छुट्टी का समय है। यदि किसी सहपाठी ने उसे इस हाल में देख लिया, तो सभी सहपाठी उसे स्कूल में तंग करेंगे अथवा उसका मज़ाक उड़ाया जाएगा- "बस-अड्डे की परिचित भीड़ से मैं उस रोज जिस तरह निकला, मेरा ही मन जानता है। एक भय लगातार मेरा पीछा कर रहा था- कोई देख न ले। कोई सहपाठी न मिल जाए। अगर पूछ बैठा कोई, तो क्या बताऊँगा?"[7]

इन बेबस दलितों को तो बड़ी जाति के लोग केवल अपना नौकर समझते हैं और उन्हें तो केवल उनसे अपना काम करवाना है, खासकर गंदगी साफ करवाने का, और उसके बदले में वे उन्हें एक फूटी कौड़ी तक देने को तैयार नहीं। यदि दलित वर्ग इसका विरोध करते हैं, तो उन पर लाठियाँ बरसाई जाती हैं। उन पर जुल्म किया जाता है। यहाँ तक कि उनकी ज़ुबान बंद करने की कोशिश की जाती है। लेखक कहता है- अपना श्रम का मूल्य माँगना क्या कोई अपराध है? "हज़ारों साल से इसी तरह कमज़ोर और बेबसों को दबाया गया है। कितनी प्रतिभाएँ छल और कपट का शिकार होकर मिट गईं- कोई हिसाब नहीं।"[8]

जूठन कृति में लेखक ने जहाँ अपने जीवन की घटनाओं का उल्लेख किया है, वहीं इसके साथ-साथ उन्होंने अपने दलित समाज की संस्कृति, सभ्यता अथवा रीति-रिवाज़ों का वर्णन भी किया है। इस रचना के पठनोपरांत पता चलता है कि दलित समाज की संस्कृति कैसी है और किस प्रकार इनके पूजनीय देवी-देवता हिंदू समाज के देवी-देवताओं से भिन्न हैं। जन्म-मरण, खुशी-ग़मी, विवाह अथवा कैसा भी कार्यक्रम क्यों न हो, ये अपने बनाए देवी-देवताओं की पूजा करते ही हैं। उनकी आराधना किए बिना इनका हर कार्य अधूरा ही रहता है।

यहाँ तक कि यदि किसी को कोई रोग भी लग जाता है, तो उसे डॉक्टर के पास दिखाने और इलाज में दवा-दारू करने की बजाय किसी ऐसे व्यक्ति के पास दिखाया जाता है, जो भक्त होता है और जिसके ऊपर इन देवी-देवताओं की कृपा बनी रहती है। उससे पूछकर ही रोगी का उपचार दवाई से नहीं, बल्कि झाड़-फूँक द्वारा किया जाता है, और बदले में देवी-देवता को खुश करने के लिए सूअर के बच्चे की बलि और शराब भेंट की जाती है। ऐसे अंधविश्वासों में फँसे समाज का चित्रण लेखक ने बखूबी से किया है। रचना पढ़ने पर जहाँ हम लेखक के जीवन के बारे में जान पाते हैं, वहीं दलित समाज के बारे में भी अच्छी जानकारी मिल जाती है- "बस्ती में जब भी कोई बीमार पड़ जाता, दवा-दारू करने के बजाय भूत-प्रेत की छाया से छुटकारा पाने के कार्य- झाड़-फूँक, टोने-टोटके, ताबीज़, गंडे, भभूत आदि की आजमाइश शुरू हो जाती थी। ये तमाम काम रात में किए जाते थे।"[9]

"इन देवताओं को 'पौन' कहा जाता है। कलवा, हरि सिंह नलवा विशिष्ट और बड़े 'पौन' हैं, जो ज्यादातर परिवारों में पूजे जाते हैं। कई देवियाँ भी हैं, जिनमें माई मदारन उल्लेखनीय देवी है। कहने को तो बस्ती के सभी लोग हिन्दू थे, लेकिन किसी हिन्दू देवी-देवता की पूजा नहीं करते थे। जन्माष्टमी पर कृष्ण की नहीं, जहारपीर की पूजा होती थी या फिर 'पौन' पूजे जाते थे। वे भी अष्टमी को नहीं, 'नवमी' के ब्रह्ममुहूर्त में। इसी प्रकार दीपावली पर लक्ष्मी का पूजन नहीं, माई मदारन

के नाम पर सूअर का बच्चा चढ़ाया जाता है या फिर कड़ाही की जाती है। कड़ाही यानी हलवा-पूरी का भोग लगाया जाता है।"[10]

"ये पूजा करते हैं अपने देवी-देवताओं की, जिनके नाम न तो वैदिक ग्रंथों में मिलेंगे, न पुराणों में। पूजा की विधियाँ भी अलग हैं।"[11] दलितों के प्रति सवर्णों ने सदा अमानवीय व्यवहार को तरजीह दी है। सवर्णों को तो बस एक अवसर मिलना चाहिए दलितों का अपमान और निंदा करने का; वे बेचारे इन दलितों के प्रति ऐसी क्रूरता से पेश आते हैं कि उनका जीना भी हराम हो जाता है- न दिन का चैन और न रात की नींद ही रहती है। ऐसी अमानवीय घटनाओं का उल्लेख लेखक ने अपनी आत्मकथा में किया है।

जाति-भेदभाव तो इस रचना की खास विशेषता रही है। जिस जाति-भेद की हम बातें करते अथवा सुनते हैं, लेखक ने उसे साक्षात् भोगा है, तभी उसका विस्तार से यहाँ पर ज़िक्र किया है। दलितों के पिछड़ेपन का एक अन्य कारण उनकी अनपढ़ता रही है। दलितों में बहुत कम ऐसे लोग होंगे जो स्कूल गए होंगे। छुआ-छूत के कारण या तो उन्हें स्कूल में बिठाया नहीं जाता, या फिर वे स्वयं भेदभाव के डर के कारण स्कूल नहीं जाते और अनपढ़ रह जाते हैं।

लेखक ने अपने जीवन में इतने संकट और अपमान का सामना किया, परंतु फिर भी उन्होंने शिक्षा प्राप्त की और एक प्रख्यात लेखक के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। लेखक एक ऐसा व्यक्ति है जिसने हाई स्कूल की परीक्षा बस्ती में पास की है। घोर अमानुषिक और हिंसक कार्य- पशुबलि- का भी ज़िक्र लेखक ने अपनी आत्मकथा में किया है। देवताओं की भूमि कही जाने वाली उत्तराखंड भूमि पर ऐसा घोर पाप होना लेखक के लिए असहनीय है। त्योहारों के पवित्र अवसर पर पूजा के नाम पर पशुओं की हत्या करना विचलित कर देने वाला कार्य है, जिसे लोगों ने अपनी संस्कृति अथवा विरासत से जोड़ दिया है, जबकि लेखक ने तो इसे हिंसक प्रवृत्ति का प्रतीक माना है।

लेखक ने अपनी आत्मकथा के अंत में अपने नाम से लगे सरनेम के बारे में भी प्रकाश डाला है, जिसने लेखक की जाति का बोध सभी को करवाया, और जिसे लेखक ने जितनी बार छोड़ना चाहा, उतना ही वह उसे आत्मीय लगने लगा। यह भी बताया कि किस प्रकार- "मराठी के चर्चित दलित कवि लोकनाथ यशवंत को मेरा वाल्मीकि सरनेम आकर्षक लगता है।"[12] लेखक कहता है कि 'ओमप्रकाश' नाम तो घिसा-पिटा सा लगता है, जो बिना सरनेम के अधूरा सा प्रतीत होता है, क्योंकि लेखक को अपनी जाति बताने में कोई शर्म महसूस नहीं होती। वे स्पष्ट लिखते हैं- "पूर्ण हुआ या नहीं, हाँ, इस सरनेम के कारण मैंने कई खतरे उठाए हैं। सच पूछा जाए तो मेरे संघर्षों और सरोकारों का साथी बन गया है यह सरनेम। 'ओमप्रकाश' पर यह 'वाल्मीकि' कुछ भारी भी पड़ने लगा है।"[13]

उनके अनुसार अपनी जाति को सबके सामने दिखाना बड़ा साहसिक है, क्योंकि किसी को जाति पूछने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती; सब कुछ सरनेम से स्पष्ट हो जाता है कि कौन-सी जाति है। पर मेरी ही जाति के कुछ लोग, जिनमें पढ़े-लिखे लोग और साहित्यकार भी शामिल हैं, उन्हें जाति को सरनेम बनाना बेवकूफी लगता है, क्योंकि इसे साथ लगाने से लोगों का व्यवहार बदल जाता है।

दलितों की यह सबसे बड़ी समस्या रही है- अपनी अलग पहचान बनाना। वे चाहें जितना मरजी पढ़ लें, पर 'दलित' शब्द उनके साथ रहता ही है, जो उनके विकास मार्ग में भयंकर संकट खड़ा करता है। वे भी समाज में अपनी अलग पहचान बनाने के इच्छुक हैं, पर सवर्ण उन्हें ऐसा करने ही नहीं देते। "दलित पढ़-लिखकर समाज की मुख्यधारा से जुड़ना चाहते हैं, लेकिन सवर्ण उन्हें इस धारा से रोकता है। उनसे भेदभाव बरतता है। अपने से हीन मानता है। उसकी बुद्धिमत्ता, योग्यता, कार्यकुशलता पर संदेह व्यक्त किया जाता है। प्रताड़ित करने के तमाम हथकंडे अपनाए जाते हैं। इस पीड़ा को वही जानता है, जिसने इसकी विभीषिका के नश्तर अपनी त्वचा पर सहे हैं, जिसने जिस्म को सिर्फ बाहर से ही नहीं, अंदर से भी छिन्न-भिन्न कर दिया है।"[14]

जूठन आत्मकथा के दूसरे खंड में लेखक ने लोगों की उस मानसिकता का वर्णन किया है, जो वर्षों बीत जाने के बाद भी नहीं बदली है। एक दलित, खासकर वाल्मीकि को किस प्रकार सामाजिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, खासकर किस प्रकार उन्हें जलील अर्थात् बदनाम किया जाता है, इसे लेखक अपनी लेखनी के माध्यम से दिखाता है। एक 'वाल्मीकि' सरनेम रख लेने पर लेखक को हर जगह केवल समस्याएँ ही मिलीं। ऑर्डनेंस फैक्ट्री से लेकर किराये पर मकान लेने तक लेखक को शर्मिंदा ही होना पड़ा। उसे हर जगह, हर किसी ने केवल नीचा दिखाने की ही कोशिश की, पर लेखक में साहस इतना प्रबल रहा कि उन्होंने कभी हिम्मत नहीं हारी। उनकी जाति हर बार, हर जगह उनके मार्ग में बाधा बनकर सदैव उनके समक्ष खड़ी होती रही है।

उनके रिश्तेदारों, मित्रों व सगे संबंधियों ने उन्हें 'वाल्मीकि' सरनेम को अपने मूल नाम के साथ से हटाने के लिए कई बार कहा, और इस पीछे कई बार कलह की परिस्थितियाँ भी बनीं, पर लेखक सदैव अडिग रहे। उन्होंने अपना सरनेम कभी नहीं बदला, बल्कि इसे उन्होंने अपनी अलग पहचान बनाया, जिससे लेखक के स्वभाव की विशेषता-निर्भीकता-का पता चलता है, जो उनका विशेष गुण बनकर सबके सामने उभरकर आया है। यह कृति यही सीख देती है कि अगर भारतीय संदर्भ में साहित्य के समाजशास्त्र का निर्माण करना है, तो दलित साहित्य को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता, क्योंकि निश्चय ही- "भारतीय समाज में 'जाति' एक महत्वपूर्ण घटक है। 'जाति' पैदा होते ही व्यक्ति की नियति तय कर देती है।"[15]

यहाँ तो प्रेम पर भी जाति का भूत हावी हो जाता है और प्रेम को जाति परास्त कर देती है। इसे सविता प्रसंग के माध्यम से आसानी से जाना जा सकता है। लेखक के करीब आती जा रही सविता को, जब लेखक ने अपने एस.सी. होने की बात बताई, तो वह उनसे हमेशा के लिए दूर हो गई। ब्राह्मण कुल में जन्मी सविता का पारिवारिक पूर्वग्रह था कि 'एस.सी. अनकल्चर्ड होते हैं, गंदे रहते हैं।' इसलिए वह लेखक का एस.सी. होना आसानी से स्वीकार नहीं कर पाई- "तुम एस.सी. कैसे हो सकते हो? तुम तो ब्राह्मण हो।"[16] उसके लिए व्यक्ति और प्रेम महत्वपूर्ण नहीं, जाति महत्वपूर्ण हो गई, जिसके फलस्वरूप संबंध-विच्छेद हो गया।

नीच जाति के कारण ही सबसे पहले लेखक को यदि सामना करना पड़ा, तो वह था- शिक्षा प्राप्ति के मार्ग में बाधाओं का, क्योंकि उच्च जाति वालों की सदा से यही मानसिकता रही है कि अगर वे (दलित) पढ़ गए, तो फिर उनकी गुलामी कौन करेगा। इसीलिए जब लेखक को स्कूल में दाखिला मिल भी गया, तो उनकी पढ़ाई छुड़ाने की कोशिशें भी शुरू हो गईं। कैसा व्यवहार होता था उस समय दलितों के साथ, उन्हें कितनी घृणास्पद दृष्टि से देखा जाता था- इन सब अनुभवों को लेखक कुछ यूँ याद करते हैं- "त्यागियों के बच्चे 'चूहड़े का' कहकर चिढ़ाते थे। कभी-कभी बिना कारण पिटाई भी कर देते थे। एक अजीब-सी यातनापूर्ण जिंदगी थी, जिसने मुझे अंतर्मुखी, चिड़चिड़ा और तुनकमिज़ाज बना दिया था। स्कूल में प्यास लगे तो हैंडपंप के पास खड़े रहकर किसी के आने का इंतज़ार करना पड़ता था। हैंडपंप छूने पर बवेला हो जाता था। लड़के तो पीटते ही थे, मास्टर लोग भी हैंडपंप छूने की सज़ा देते थे। तरह-तरह के हथकंडे अपनाए जाते थे, ताकि मैं स्कूल छोड़कर भाग जाऊँ। मैं भी उन्हीं कामों में लग जाऊँ, जिनके लिए मेरा जन्म हुआ था। उनके अनुसार स्कूल आना मेरी अनधिकार चेष्टा थी।"[17]

शिक्षक, जो समाज का निर्माता है, यदि वही ऐसा व्यवहार करने लगे, जिसकी उससे आशा नहीं की जा सकती, तो अच्छे समाज की हम कल्पना नहीं कर सकते। बिल्कुल ऐसा ही ज़िक्र लेखक ने अपनी आत्मकथा में किया है कि किस प्रकार अध्यापक दलित विद्यार्थियों से गलत व्यवहार करते हैं- उन्हें 'चूहड़े का' कहकर बुलाते हैं, पीटते हैं, काम करवाते हैं, पर पढ़ाते नहीं हैं, गालियाँ देते हैं, सुंदर बालकों को घर बुलाकर गलत व्यवहार करते हैं, अजीब सवाल पूछते हैं, जैसे कि सूअर खाते हो, कितना खा लेते हो, आदि।

उनका दलित विद्यार्थियों से व्यवहार ऐसा रहता है, जैसा किसी ज़ालिम-गुंडे का व्यवहार होता है- "जो माँ-बहन की गालियाँ देते थे। सुंदर लड़कों के गाल सहलाते थे और उन्हें अपने घर बुलाकर उनसे वाहियातपन करते थे।"18 इतना कुछ सहन करने पर भी वे पढ़े क्यों? लेखक के पिता का विश्वास था कि 'पढ़ने से जाति सुधरती है', जबकि वे स्वयं अनपढ़ थे। वे चाहते थे कि उनका बेटा पढ़े- नौकरी पाने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि इससे सच्चे अर्थों में जाति सुधरती है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होता है कि लेखक ने जीवनभर कठिन परिस्थितियों का सामना किया, पर फिर भी वे कहीं रुके नहीं। उनकी यात्रा निर्भय होकर निर्बाध चलती रही, जिससे यही मालूम पड़ता है कि किसी भी समस्या का समाधान, यानी सामाजिक बदलाव, पलायन से नहीं, बल्कि संघर्ष और संवाद से आएगा। 'जूठन' केवल एक व्यक्ति की कहानी नहीं, बल्कि पूरे दलित समाज के संघर्ष की गाथा है, जो दलित चेतना को जगाती है। इस आत्मकथा के दोनों खंड मिलकर यह दिखाते हैं कि अपमान से आत्मसम्मान तक की यात्रा कितनी कठिन और ज़रूरी है। तमाम हादसों के बावजूद ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपना सरनेम नहीं छोड़ा। उनके मन में जाति से संबंधित किसी तरह का हीनता-बोध नहीं रहा। आज 'वाल्मीकि' सरनेम लेखक के नाम का एक जरूरी हिस्सा बन गया है; यह उनके संघर्षों और सरोकारों का साथी बन गया है। सचमुच, 'वाल्मीकि' के बिना आज ओमप्रकाश की कोई पहचान नहीं है। हिन्दी दलित साहित्य में 'जूठन' को मील का पत्थर माना जाता है।

संदर्भ सूची

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन (पहला खंड), नई दिल्ली, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, 2017, पृ. सं. 15
2. पूर्ववत्, पृ. सं. 19
3. पूर्ववत्, पृ. सं. 20
4. पूर्ववत्, पृ. सं. 26
5. पूर्ववत्, पृ. सं. 30
6. पूर्ववत्, पृ. सं. 35
7. पूर्ववत्, पृ. सं. 48
8. पूर्ववत्, पृ. सं. 52
9. पूर्ववत्, पृ. सं. 53
10. पूर्ववत्, पृ. सं. 53–54
11. पूर्ववत्, पृ. सं. 79
12. पूर्ववत्, पृ. सं. 151
13. पूर्ववत्, पृ. सं. 152
14. पूर्ववत्, पृ. सं. 155

15. पूर्ववत्, पृ. सं. 163

16. पूर्ववत्, पृ. सं. 121

17. पूर्ववत्, पृ. सं. 13

18. पूर्ववत्, पृ. सं. 14

19. ebooks.inflibnet.ac.in/hinp12/chapter/जूठन-का-आलोचनात्मक-अध्यय/ जूठन